आभास उस संवाद से होता है, जिसमें पुत्र की जिज्ञासा देखकर किसी विवाह में विदाई के अवसर पर पिता ने कहा था :—"बेटा ! माँ-बाप से होने वाले वियोग के दुःख में दुल्हिन रो रही है; परन्तु दूल्हे को रोने की क्या जल्दी है ? शादी के बाद इसे जीवन भर रोना ही रोना तो है ? (दृष्टान्त क्रमांक—७९)

आखिर दृष्टान्तों की रोचकता और प्रभावकता को प्रतिपादित करने के लिए इस "कथा संग्रह" के कितने दृष्टान्तों की ओर संकेत किया जाय ? एक-सौ-एक मनोहर लघुकाय दृष्टान्तों का यह संकलन आपके सामने है ही। कहीं से भी कोई भी पृष्ठ खोलकर आप देख सकते हैं। प्रत्येक दृष्टान्त से अपने जीवन को प्रेरित करने की कोई-न-कोई शिक्षा अवश्य मिलेगी।

इन दृष्टान्तों की भाषा को सजाने-सँवारने, कथ्य को संक्षेप में प्रकट करने और प्रत्येक दृष्टान्त के प्रारम्भ में उससे सम्बन्धित एक दोहे या सोरठे की तन्मयतापूर्वक रचना करने का श्रेय इस पुस्तक के सम्पादक काव्यतीर्थ सुकवि पण्डित श्री शान्तप्रकाश जी 'सत्यदास' को है, जो संस्कृत में एम० ए० परीक्षा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कर प्रावीण्य-सूची में द्वितीय स्थान पा चुके हैं।

आशा है, भविष्य में भी श्री अमोल जैन ज्ञानालय (धूलिया-महाराष्ट्र) के लिए अभीष्ट साहित्य सेवा के कार्य में अपेक्षित सहयोग उनसे इसी प्रकार निरन्तर मिलता रहेगा।

—कल्याण ऋषि

सुभाषित भी लिखा गया है, जिससे पाठकों या श्रोताओं के हृदय पर उसकी अमिट छाप पड़ सके।

बाल ब्रह्मचारी शास्त्र मर्मज्ञ प्रखर वक्ता पण्डित मुनि श्री कल्याण ऋषि जी महाराज साहब को ऐसी कथाएं संकलित करने का प्रारम्भ से ही शौक रहा है। वे अपने प्रवचनों को प्रभावक और रोचक बनाने के लिए प्रसंगानुसार ऐसे ही मनोरम दृष्टान्तों का प्रयोग करते रहे हैं। बड़े ही परिश्रम और मनोयोगपूर्वक उनके द्वारा संकलित ग्यारह सौ दृष्टान्तों से चुने हुए एक सौ एक दृष्टान्तों का यह सम्पादित संस्करण आपके कर कमलों में प्रस्तुत है।

—शान्त प्रकाश 'सत्यवास'

१०. संयम काल उत्कृष्ट वैराग्यमय, सतत सुकर्मशीलता और श्रुत-साहित्य-सेवा करते हुए सानन्द व्यतीत किया। आपश्री का जीवन ज्ञान का कल्पतरु था। आपश्री बाल ब्रह्मचारी थे। सभी सम्प्रदाय के सन्त समुदाय और श्रावक वर्ग पूज्यश्री के प्रति अतीव आदर भाव से प्रेम, सम्मान, सहानुभूति, भक्ति और श्रद्धा रखते थे। आप शान्त, दांत और क्षमाशील थे। अपने युग में आपश्री एक आदर्श श्रमण के रूप में विख्यात तथा सम्मानित रहे। आज शताब्दी बीत जाने पर भी उनका गरिमामय कृतित्व सम्पूर्ण स्थानकवासी जैन समाज के लिए गौरवास्पद है।

११. **साहित्य सेवा**—आपश्री द्वारा अनुवादित, सम्पादित, लिखित और संग्रहीत एवं रचित ग्रन्थों की संख्या १०२ है जिनकी कुल प्रतियाँ १७६३२५ प्रकाशित हुई। कुल ग्रन्थों की मूल प्रेस कापी के पृष्ठों की संख्या पचास हजार जितनी है।

१२. **दीक्षित शिष्य**—आपश्री द्वारा दीक्षित सन्तों की अर्थात् खुद के शिष्यों की संख्या १४ हैं।

१३. **सयम काल**—पूज्य श्री जी ने ४७ वर्ष ६ महीना और १२ दिन तक साधु-जीवन की—संयम की निरतिचार परिपालना की।

१४. **पुण्य तिथि**—संवत् १९९३ के दूसरे भाद्रपद कृष्णा १४ तदनुसार तारीख १३-९-१९३६ की रात्रि के ११½ बजे धुलिया (पश्चिम खानदेश) में समाधिपूर्वक एवं शांति के साथ स्वर्गवास हुआ। उस समय पूज्यश्री जी की आयु ६० वर्ष और ९ दिन की थी।

□

१ अचौर्य

आम्रवाटिका में रहे, एक न खाया आम।
इब्राहिम को धन्य है, जिसने पाया नाम॥

एक सन्त थे—इब्राहिम। वे भ्रमण करते हुए एक बगीचे में ठहरे। बगीचे के मालिक ने उन्हें बगीचे की रखवाली का काम सौंप दिया। भक्ति एवं चिन्तन के लिए एकान्त शान्त वातावरण देखकर सन्त ने वह काम स्वीकार कर लिया। उन्हें मालिक की ओर से निश्चित समय पर वेतन मिलता था. उसी से काम चलाते थे, बगीचे के फलों को वे छूते तक न थे। सन्त स्वभाव चोरी से उन्हें रोके रहा वे। जानते थे—

"अदत्तादाणं अकित्तिकरणं अणज्जं सया साहुगरहणिज्जं।"

[न दी हुई वस्तु ग्रहण करना अपयश करने वाला ऐसा अनार्य (अनुचित) कार्य है, जिसकी सदा साधु पुरुष निन्दा करते रहे हैं।]

एक दिन अपने मित्रों के साथ मालिक बगीचे में आया। इब्राहिम को कुछ आम तोड़कर लाने के लिए कहा गया। वह ले आया; किन्तु चूसने पर जब खट्टे निकले तब मालिक ने कहा—"इतने दिन बगीचे में रहते हो गये, पर तुम्हें यह भी पहचान नहीं कि कौन-सा आम खट्टा है और कौन-सा मीठा ?"

सन्त ने कहा—"मुझे बगीचे की रखवाली का काम सौंपा गया था; फल चखने का नहीं !"

उत्तराध्ययन सूत्र में ठीक ही कहा है—

दन्तसोहणमाइस्स अदत्तस्स विवज्जणं।"

[साधु वह है, जो दांत कुरेदने का तिनका भी बिना दिया न ले।]

३ अनित्यता

दासी को भी हो जहाँ, अनित्यता का वोध।
वहाँ न हो सकता कभी, मुक्ति मार्ग-प्रतिरोध ॥

एक सेठजी वड़े सत्संग-प्रेमी थे। पूरे परिवार में धार्मिक ज्ञान-चर्चा का रस लिया-दिया जाता रहता था। एक दिन सेठजी ने कहा—"मेरा जीवन सात दिन का है। मैं चाहिये वैसा परोपकार नहीं कर सका। अव शीघ्र कर लेना चाहता हूं।" सेठानी वोली—"सात दिन की क्या वात? रात को जो मनुष्य सोता है, वह प्रातःकालीन सूर्य देखेगा भी या नहीं? यह नहीं कहा जा सकता।"

इस पर कन्या वोली—

पित्रा नैव यथा वुद्धम् मात्रापि च न वुध्यते।
घटिकाद्वयकालेन न जाने किं भविष्यति ॥

(जिस प्रकार पिताजी नहीं समझते, माताजी भी नहीं समझतीं, दो घड़ी वाद ही क्या होगा? मैं नहीं जानती।)

इस पर एक दासी भला क्यों चुप रहती? वोली—

न वुद्धं पितृमातृभ्याम्, कन्यया नैव लक्ष्यते।
वहिर्देशे गते श्वासे, का प्रमा पुनरागमे?

(न तो पिता और माता समझते हैं और न कन्या ही कुछ समझती है। जो श्वास वाहर निकल गई, सो निकल गई। वह लौटेगी भी या नहीं अर्थात् साँस छोड़ने के वाद साँस ली भी जा सकेगी या नहीं? सो नहीं कहा जा सकता। (अतः सेठजी को जो भी परोपकार करना हो, तत्काल प्रारम्भ कर देना चाहिये।)

५ अवसर

नौकर बोला एक डालर इसका मोल है।
मालिक की थी टेक, समय-मोल अनमोल है॥

ग्राहक ने किसी पुस्तक विशेष की आवश्यकता का अनुभव किया; क्योंकि 'टपर' नामक विद्वान के शब्दों में वह जानता था—

Book are our best friends.
(बुक्स आर अवर बेस्ट फ्रेंड्स)
[पुस्तकें अथवा सद्ग्रन्थ हमारे सबसे अच्छे मित्र हैं।]

उस पुस्तक का मूल्य उसने किसी पुस्तकों की दूकान पर जाकर पूछा। दूकान पर जो नौकर था, उसने बताया - एक डालर।

ग्राहक को कुछ शंका हुई, उसे मूल्य कुछ अधिक जान पड़ा। उसने कहा कि आप कृपया दूकान के मालिक को बुलवालें। मालिक थे—सर बेंजामिन फ्रेंकलिन, जो उसी दूकान के ऊपर स्थित अपने प्रिंटिंग प्रेस में बैठे हुए किसी पुस्तक का प्रूफ देख रहे थे। नौकर के पुकारने पर हाथ का काम छोड़कर नीचे चले आये। ग्राहक के पूछने पर उन्होंने उसी पुस्तक का मूल्य सवा डालर बताया। ग्राहक ने कहा कि आपके नौकर ने तो एक ही डालर मूल्य बताया और आप उससे भी अधिक बता रहे हैं—ऐसा क्यों?

फ्रेंकलिन ने कहा—"अब तो इसका मूल्य डेढ़ डालर हो गया है; क्योंकि मैं काम को छोड़कर यहां आने का जो समय दे रहा हूं, उसका मूल्य भी इसमें शामिल हो गया है।"

ग्राहक ने डेढ़ डालर देकर पुस्तक ले ली। कहा है—

"समय चूकि पुनि का पछिताने!"

७ अविवेक

सुनकर कथा तमाम, समझ में न आया अहो।
यही कि राक्षस राम, अथवा रावण था कहो॥

एक कथावाचक पंडित जी ने "रामचरित मानस" पर महीने भर तक प्रवचन किये। समापन-समारोह के दिन अन्तिम प्रवचन के बाद नियमानुसार कुछ समय शंका-समाधान के लिए दिया गया; क्योंकि—

वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः।

(वाद करने से—ज्ञानियों के साथ चर्चा करने से तत्त्वबोध होता है।)

विभिन्न शंकाओं के समाधान किये भी गये; परन्तु एक नियमित श्रोता ने प्रवचनों की खूब प्रशंसा करते हुए एक प्रश्न प्रस्तुत किया—"पंडितजी! मुझे एक बात समझ में नहीं आई। कृपया समझाने का कष्ट करें कि रामायण के पात्रों में राक्षस कौन था—राम या रावण?"

प्रश्न सुनते ही पंडितजी ने अपना माथा ठोकते हुए कहा—"अरे भाई! राक्षस न तो राम थे और न रावण ही था। असली राक्षस तो मैं स्वयं ही हूं, जिसे प्रवचन करते समय यह विवेक नहीं रहता कि श्रोताओं का स्तर कैसा है।"

अविवेक ही हमारा दुश्मन है—

नास्त्यविवेकात्परः प्राणिनां शत्रुः।

(अविवेक से बढ़कर प्राणियों का कोई दूसरा शत्रु नहीं है।)

९ अहंकार

जब तक मन में जल रही, अहंकार की आग।
तब तक कितना भी करो, सभी व्यर्थ तप-त्याग॥

अहंकार की आग बड़ी प्रबल होती है। वह किसे जलाती है ? उत्तर में एक तपस्वी की जीवन कथा प्रस्तुत है—

नारदजी को एक तपस्वी ने देखा तो बैठे-बैठे ही उनसे कहा—"आप भगवान् से पूछकर आइयेगा कि मेरी मुक्ति कब होगी ?"

नारदजी ने उस अविनीत तपस्वी को मूर्ख समझा। कहा भी है—

"बालजणो पगब्भई।"

[मूर्ख व्यक्ति ही घमण्ड करता है।]

"माना कि वह तपस्वी है, फिर भी उसे मेरा आतिथ्य-सत्कार करना चाहिये था। खैर, वह अपने कर्तव्य का पालन न करे तो भी मुझे तो करना ही चाहिये"—ऐसा मन में सोचते हुए नारदजी भगवान के पास पहुंचे और उनसे उस तपस्वी की मुक्ति के विषय में पूछा।

भगवान् ने कहा कि मेरे पास विश्वकर्मा ने मोक्ष पाने योग्य व्यक्तियों की जो सूची पहुंचाई है, उसमें उस तपस्वी का नाम ही नहीं है; क्योंकि उसमें तीव्र अहंकार की आग है, जो उसकी तपस्या के फल को जला डालती है। जो अहंकारी होता है, वह दूसरों को तुच्छ समझता है। कहा है—

अन्नं जणं पस्सति बिम्बभूयं।

[अहंकारी दूसरे लोगों को अपनी परछाई के समान तुच्छ मानता है।]

११ आत्मविश्वास

स्ट्विन का जो अद्भुत किला, करता उसमें वास।
रहता जग में वह अमर लिये आत्मविश्वास॥

यूरोप में एक व्यक्ति था—स्ट्विन, वह अत्यन्त निर्भय था। एक वार उससे पूछा गया कि शत्रुओं का आक्रमण होने पर आप क्या करेंगे ?

उसने उत्तर में कहा कि किला मेरी रक्षा करेगा। कहते हैं :—

न गजानां सहस्रेण, न लक्षेण च वाजिनाम्।
तथा सिद्ध्यन्ति कार्याणि, यथा दुर्गप्रभावतः॥

(हजार हाथियों और लाख घोड़ों की सेना से भी वैसे कार्य सिद्ध नहीं होते, जैसे दुर्ग (किले) के प्रभाव से सिद्ध होते हैं।)

यह वात शत्रु भी सुन रहे थे। उन्होंने कहीं अकेला पाकर स्ट्विन को घेर लिया और पूछा—"कहाँ है आपका वह किला, जो आपकी रक्षा करेगा ?"

उसने दृढ़तापूर्वक छाती ठोकते हुए कहा—'मेरी आत्मा ही मेरा किला है, तुमने इस शरीर को घेरा है, तुम इसे नष्ट भी कर सकते हो; परन्तु इस शरीर की अध्यक्षता करने वाली आत्मा का कुछ नहीं विगाड़ सकते ! वह अजर है—अमर है—अनश्वर है।"

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः॥

(इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते—आग जला नहीं सकती—जल गीला नहीं कर सकता और वायु सुखा नहीं सकती।)

१३ आत्मश्लाघा

रहता वह असहाय, जो होता थोथा चना।
बजता रहता हाय ! कहते हैं, कितना घना ?

एक पहलवान पुत्र को, जो अखाड़े में कुश्ती हार गया था, घर लौटने पर माँ ने कहा—"सुना है कि आज तुम कुश्ती में हार गये हो, क्या यह खबर झूठी है ?"

पहलवान ने मूँछों पर ताव देते हुए कहा—"बिल्कुल झूठी खबर है माँ ! मैं तो सामने वाले पहलवान को बुरी तरह पछाड़ कर आया हूं, उसे ऐसा पटका कि बेचारा नीचे की ओर नजर किये वह जमीन को ताकता रहा; परन्तु हम उस समय ऊपर आसमान को देख रहे थे--

अम्मा ! हमने मल्ल पछाड़ा, छाती ऊपर धम !
वह बेचारा नीचे देखे, ऊपर देखें हम !!

यह सुनकर माँ समझ गई कि बेटा चित्त था और सामने वाला पहलवान ही जीता था; परन्तु यह मूर्ख शेखी बघार कर झूठी प्रशंसा लूटना चाहता है, यह नहीं जानता कि अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना कितना बुरा है।

परैः प्रोक्ता गुणा यस्य, निर्गुणोऽपि गुणी भवेत्।
इन्द्रोऽपि लघुतां याति, स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः॥

(जिसके गुण दूसरों के द्वारा कहे जाते हैं, वह निर्गुण भी गुणी हो जाता है; परन्तु अपने मुँह से अपने गुण कहने वाला इन्द्र भी तुच्छ माना जाता है।)

१५ ईर्ष्या

ईर्ष्या की यदि आग, जलती-रहती रात दिन।
तो लगता दुखदाग, जाता है आनन्द छिन॥

भेंट स्वरूप एक शंख सामने रखकर देवी ने अपने भक्त से कहा:—"इस शंख को बजाने से तुम्हें वह वस्तु मिल जायगी, जिसे तुम चाहते हो; परन्तु तुम्हारे पड़ौसियों को वही वस्तु तुमसे दुगुनी मिलेगी।"

भक्त ने शंख फूँककर अपनी झोंपड़ी को महल में बदल लिया; परन्तु उसी समय पड़ौसियों के पास दो-दो महल हो गये। ईर्ष्या भला यह कैसे सह जाती?

"ईर्ष्या हि विवेकपरिपन्थिनी।"

(ईर्ष्या विवेक की विरोधिनी है।)

कुछ दिनों बाद शंख से दो हजार रुपये माँगे गये तो पड़ौसियों को चार-चार हजार रुपये मिल गये। यह देखकर भक्त ने अपने महल में चार कुएँ बनवाये और एक आँख फूट जाय—ऐसी माँग भी की। उसकी इच्छा पूरी हो गई, परन्तु पड़ौसियों के महलों में आठ-आठ कुएँ खुद गये और वे सब अन्धे होकर उन कुओं में गिर पड़े। इससे ईर्ष्यालु भक्त बहुत प्रसन्न हुआ। जो ईर्ष्यालु नहीं होते, वे दूसरों को सुखी देख कर प्रसन्न होते हैं:—

सुरम्यान्कुसुमान् दृष्ट्वा, यथा सर्वः प्रसीदति।
प्रसन्नानपरान् दृष्ट्वा, तथा त्वं सुखमाप्नुयाः॥

(सुन्दर फूलों को देखकर जिस प्रकार सब प्रसन्न होते हैं, इसी प्रकार दूसरों को प्रसन्न देख कर तू भी प्रसन्न रह।)

१७ ऋण

भली-भाँति जो जानता, जीना है दिन चार।
वह ऋण लेने का कभी, करता नहीं विचार॥

बगदाद की घटना है। वहाँ के खलीफा अपने खर्च के लिए प्रति-दिन एक रुपया खजाने से ले लिया करते थे। उसी से अपने परिवार का खर्च चलाते थे।

एक बार ईद का त्यौहार आया। सभी नागरिकों ने नये-नये कपड़े पहने। अपने-अपने बच्चों को भी पहनाये। खलीफा के बच्चे भी नये कपड़ों के लिए हठ करने लगे। बेगम ने खलीफा से कहा कि यदि आप तीन दिन का वेतन उधार ले लें तो बच्चों के कपड़े बन सकते हैं। बेगम नहीं जानती थी कि ऋण एक विष है—

न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते।
विषमेकाकिनं हन्ति, ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रकम्॥

(जहर को जहर नहीं कहते, ऋण को ही जहर कहते हैं; क्योंकि जहर तो एक आदमी को ही मारता है, परन्तु ऋण तो बेटों-पोतों को भी मारता है।)

बेगम की बात सुनकर खलीफा ने कहा—"अगर तू खुदा से मेरे लिए तीन दिन जीवित रहने की गारन्टी लिखवा लाये तो मैं अवश्य तीन दिन का वेतन उधार ले लूंगा।"

सचमुच जीवन का कोई भरोसा नहीं है, इसलिए ऋण से सदा बचना चाहिये:—

पापं कर्तुमृणं कर्तुं मन्यन्ते मानवाः सुखम्।
परिणामोऽतिगहनो महतामपि नाशकृत्॥

(पाप करने और ऋण लेने में मनुष्य सुख मानते हैं; किन्तु इनका भीषण परिणाम बड़ों का भी नाश कर देता है।)

१९ एकाग्रता

लगा खुदा में था न जब, बादशाह का ध्यान।
गुरु नानक को धन्य है, जिसने खोले कान॥

सुलतानपुर के बादशाह ने एक दिन गुरु नानक से अनुरोध किया कि आज आप मेरे साथ नमाज पढ़ने चलें। नानक ने स्वीकृति दे दी। दोनों मस्जिद में पहुंचे, जहाँ एक मौलवी पहले ही से मौजूद था।

नमाज शुरू हुई; परन्तु उसमें शामिल न होकर गुरु नानक चुपचाप एक ओर खड़े हो गये। नमाज पूरी होने पर बादशाह ने पूछा—"आप मेरे साथ नमाज में शामिल क्यों नहीं हुए ?"

इस पर मुस्कुराते हुए नानक ने कहा—"आप यहाँ थे ही कब ? जो मैं आपके साथ नमाज पढ़ता। वैसे शरीर आपका यहीं था; परन्तु मन काबुल की सैर कर रहा था। वह तो वहाँ घोड़ों का सौदा करने में लगा था। मौलवी साहब भी नमाज के समय अपने बछड़े की चिन्ता कर रहे थे कि वह घूमता-फिरता कहीं कुएँ में न जा गिरे।" माला फेरते समय भी लोग अपने मन को वश में नहीं रख पाते—

कबिरा माला काठ की, कहि समुझावै तोय।
मन न फिरावै आपणा, कहा फिरावै मोय॥

यह सुनकर बादशाह को बोध हुआ कि नमाज या प्रार्थना के समय मन एकाग्र रहना चाहिये, तभी उसमें पूरी सफलता मिल सकती है, अन्यथा नहीं ! कबीर का ही कथन है—

माला फेरत जुग गया, मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे, मन का मनका फेर॥

२१ कला

नृप को त्रिखो अपार, चित्रकार की कुशलता।
पुरस्कार का सार, पाई उसने सफलता॥

एक राजा काने थे। उन्होंने चित्रकारों से अपना चित्र बनवाना चाहा। आकर्षक और यथार्थ चित्र बनाने वाले के लिए एक हजार रुपयों के पुरस्कार की भी घोषणा की; फिर भी चित्रकारों को चित्र बनाने में कोई उत्साह नहीं रहा। उन्हें आशंका थी कि आँख कानी बताने पर राजा नाराज हो जायेंगे और चित्र भी आकर्षक न बनेगा। इससे विपरीत दोनों आँखें अच्छी बताने पर चित्र यथार्थ नहीं रहेगा।

गीता में कहा गया है—

योगः कर्मसु कौशलम्।

[कुशलतापूर्वक काम करना ही योग है।]

एक चित्रकार ने बड़ी ही सूझ-बूझ के साथ आकर्षक यथार्थ चित्र बनाकर राजा के सामने रख दिया। चित्र में दिखाया गया था कि एक हरिण भाग रहा है और जंगल में राजा उसका शिकार करने के लिए लक्ष्य साध रहे हैं। लक्ष्य साधते समय एक आँख बन्द रखी ही जाती है।

चित्रकार की कुशलता पर सभी दर्शक प्रसन्न हुए। राजा ने घोषित पुरस्कार द्वारा उसे सम्मानित किया।

किसी ने ठीक ही कहा है—

"कला केवल सत्य का शृंगार है।"

२३ कर्त्तव्य

स्वकर्त्तव्य पालन किया, फल की इच्छा छोड़।
उस सैनिक को धन्य है, लाख सहस्र करोड़॥

सेनाध्यक्ष सिडनी जब युद्ध क्षेत्र में घायल होकर गिर पड़ा, तब एक सैनिक का ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ।

उसने पूरी शक्ति से प्रत्याक्रमण करके शत्रुओं को खदेड़ दिया। फिर सेनापति को उठाकर ऐसे सुरक्षित स्थान पर ले गया, जहाँ किसी प्रकार का भय नहीं था। सैनिक अपने कर्त्तव्य का पालन बिना किसी लोभ के कर रहा था। उसे शायद गीता के इस भाव का स्मरण हो रहा था—

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि॥

[तेरा कर्म करने का ही अधिकार है, फल पर विचार करने का नहीं, तू कर्मफल का कारण मत बन और तेरी अकर्म (आलस्य) में आसक्ति भी न हो।]

उस सैनिक की सेवा से प्रसन्न होकर सेनाध्यक्ष ने उसका नाम पूछा तो उसने उत्तर दिया—"मैंने इनाम पाने के लिए आप की रक्षा और सेवा नहीं की है; इसलिए नाम जानकर आप क्या करेंगे?" ऐसा कहकर बिना नाम बताये ही वहाँ से चला गया।

विहाय कामान् यः सर्वान्, पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः, स शान्तिमधिगच्छति॥

[जो पुरुष सब कामनाओं को छोड़कर इच्छारहित हो जाता है, जो ममता और अहंकार से रहित है, वही शान्ति पाता है।]

२५ कुसंगति

किया काक का संग, राजन् ! ऐसी गति हुई।
अंग हो गया भंग, नष्ट-भ्रष्ट सब मति हुई॥

एक राजा जंगल में शिकार खेलने गया। थक कर विश्राम के लिए वह एक छायादार पेड़ के नीचे बैठ गया। वह कुसंगति के कुफल के विषय में सोच रहा था—

अहो दुर्जन संसर्गान्मानहानिः पदे पदे।
पावको लौहसंगेन मुद्गरैरभिहन्यते॥

[अरे दुष्टों के साथ रहने से कदम-क़दम पर कितनी मानहानि होती है ! लोहे की संगति के कारण अग्नि घनों से पीटी जाती है।]

थोड़ी देर में इस सत्य का राजा को प्रत्यक्ष प्रमाण मिल गया। राजा ने क्रुद्ध होकर ज्यों ही उस पेड़ पर बाण छोड़ा कि सामने एक हंस आ गिरा। घायल हंस ने कहा—"राजन् ! एक कौआ मेरे पास आकर बैठ गया। मैं उससे बात कर रहा था कि बीट करके उड़ गया और बता गया कि कुसंगति का कुफल कैसा होता है।"

दुर्वृत्त संगतिरनर्थपरम्परायाः
हेतुः सतां भवति किं वचनीयमत्र ?
लङ्केश्वरो हरति दाशरथेः कलत्रं,
प्राप्नोति बन्धनमसौ खलु सिन्धुराजः॥

[दुष्टों की संगति सज्जनों के लिए अनर्थ का कारण होती है—इस सिद्धान्त में कोई दोष नहीं है। राम की पत्नी सीता को रावण चुराता है, परन्तु समुद्र को बाँधा जाता है।]

२७. क्रोध

क्रोधी से सब कांपते, धनी हो कि कंगाल।
क्रोधी खुद भी कांपता, क्रोध स्वयं चंडाल ।।

एक योगी नदी तट पर ध्यान कर रहा था। पास ही एक चांडाल कपड़े धो रहा था। कपड़ों से उछल कर कुछ छींटे योगी के शरीर पर पड़ गये। इससे योगी का क्रोध भड़क उठा। क्रोध प्रश्नव्याकरणसूत्र के अनुसार सभी सद्गुणों को नष्ट कर देता है—

"कुद्धो सच्चं सीलं विणयं हणेज्ज।"

[क्रुद्ध व्यक्ति सत्य, शील और विनय गुण का नाश कर डालता है।]

फलस्वरूप योगी ने चिमटा उठाया और उससे चांडाल को खूब पीटा। चांडाल ने अपनी भूल के लिए क्षमा माँग ली। क्रोध शान्त होने पर योगी के ध्यान में यह बात आई कि चांडाल के स्पर्श से अपना शरीर अपवित्र हो गया है; इसलिए स्नान कर लेना चाहिये। उसने ज्यों ही स्नान किया त्योंही चांडाल ने भी स्नान के लिए डुबकी लगाई।

कपड़े छोड़कर बीच ही में स्नान करने का कारण पूछने पर चांडाल ने कहा—"आपका शरीर तो पवित्र ही है, परन्तु क्रोध से वह अपवित्र हो गया था; क्योंकि क्रोध स्वयं चांडाल है। पिटाई के समय आपके स्पर्श से मेरा शरीर भी अपवित्र हो गया था; इसीलिए मैंने स्नान किया।"

काम क्रोध मद लोभ की, जब लौं मन में खान।
तब लौं पंडित मूरखा, तुलसी एक समान ।।

२९ तृष्णा

वे नर अति नादान, जो तृष्णावश हैं सभी।
क्यों होते हैरान ? सुख से सो जायें अभी।।

सिकन्दर एक महात्मा के दर्शन करने गया। महात्मा उस समय अपने शिष्यों को समझा रहे थे कि तृष्णा मनुष्य को नचाती है—

इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।

[इच्छा निश्चय ही आकाश के समान अनन्त होती है।]

उपदेश समाप्त होने के बाद सिकन्दर के साथ उनकी इस प्रकार बातचीत हुई—

महात्मा—"आप कहाँ से यहाँ क्यों आये हैं?"

सिकन्दर—"मैं यूनान से यहाँ भारत को जीतने आया हूँ।"

महात्मा—"भारतविजय के बाद आप क्या करेंगे?"

सिकन्दर—"भारत के पड़ोसी देशों को जीतूँगा।"

महात्मा—"उसके बाद?"

सिकन्दर—"धीरे-धीरे विश्व के सभी देशों को जीतने का प्रयास करूँगा।"

महात्मा—"विश्व-विजय के बाद?"

सिकन्दर—"ग्रह-नक्षत्रों पर चढ़ाई करूँगा।"

महात्मा—"मान लो, ग्रह-नक्षत्रों पर भी आपने अपनी विजय-पताका फहरा दी तो उसके बाद आप क्या करेंगे?"

सिकन्दर—"फिर मैं आराम से सोऊँगा।"

महात्मा—"इतनी उठापटक के बाद आप आराम से सोयेंगे तो अभी से क्यों नहीं सो जाते?"

सिकन्दर निरुत्तर हो गया। कहा है—

आँखिन आछत आंधरो; जीव फरे बहु भांति।
धीरन धीरज बिन फरे, तृष्णा कृष्णा राति।।

२१ त्याग

अँगूठी थी एक, दोनों में कैसे बटे ?
आया त्याग विवेक, कलह शांत होकर कटे ॥

पिताजी के मरने पर दो भाइयों में चल-अचल सम्पत्ति का बँटवारा हुआ। सारी जायदाद बँट गई, पर एक अँगूठी पर बात अड़ गई। उसे वे बेचना भी नहीं चाहते थे और एक-दूसरे के लिए छोड़ना भी नहीं। झगड़ा पंचों के पास पहुंचा। पंचों ने श्री गुरोदिया को निर्णायक बनाया। उन्होंने तीन दिन सोचने का समय माँगा।

निर्णायक ने दोनों को अलग-अलग बुलाकर समझाया कि लक्ष्मी चंचल है। आज है, कल नहीं। उसका त्याग करने से ही शान्ति मिलेगी—

त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।

[त्याग के बाद ही शान्ति प्राप्त हो सकती है।]

परन्तु कोई भाई त्याग के लिए तैयार न हुआ। निर्णायक ने सोचा कि त्याग का उपदेश देने से पहले स्वयं उस उपदेश पर चलना चाहिये। अँगूठी उनके पास थी ही। उन्होंने चुपचाप ठीक वैसी ही अँगूठी एक सुनार से बनवा ली और फिर प्रत्येक को एकान्त में बुलाकर कहा कि अँगूठी तुम्हें एक शर्त पर मिल सकती है। वह शर्त यह कि तुम इसे कभी पहनोगे नहीं और न कभी किसी से यह कहोगे कि अँगूठी मुझे मिली है। शर्त स्वीकार करने पर एक को वह अँगूठी और दूसरे भाई को नई अँगूठी दे दी।

त्याग एव हि सर्वेषां मुक्तिसाधनमुत्तमम् ।

[त्याग ही सबके लिए मुक्ति का उत्तम साधन है।]

३३ दान

अरी लक्ष्मि ! निर्लज्ज ! पड़ी-पड़ी थुकती रही।
मैं हूँ पूजा सज्ज. फिर भी क्यों रुकती रही ?

एक सेठजी थे। दिनभर वे पान चवाया करते थे। थूकने के लिए उन्होंने एक सोने का पीकदान वनवा रखा था। लक्ष्मीजी के एक पुजारी को यह असह्य लगा। उसने लक्ष्मी से कहा—"अरी निर्लज्ज लक्ष्मि ! मैं तेरी पूजा करते-करते थक गया, किन्तु तू मेरे समीप नहीं आई और यहाँ पड़ी-पड़ी अपने आप पर थुकवा रही है ?"

इसका उत्तर सेठजी ने दिया—"भाई ! लक्ष्मी कभी पूजा करने वालों के पास नहीं जाती। वह उनके पास जाती है, जो उसे ठुकराते हैं। किसी ने कहा है—

भागती फिरती थी दुनिया जब तलब रखते थे हम।
जब हमें नफरत हुई वह बेकरार आने को है॥

कहने का आशय यह है कि लक्ष्मी का जितना त्याग किया जाय, वह उतनी ही बढ़ेगी। जनहित में या परोपकार में उसे लगाने वाला दानी ही बुद्धिमान है। वह समझता है—

त्याग कियां आवै तुरत, कोई वस्तु जरूर।
आश कियां थी 'आशिया' जाती देखो दूर॥

३५ धन-निन्दा

चोरी जुआ शराब, वेश्या का है घर यही।
धन है बड़ा खराब, कलियुग का है घर यही॥

कहते हैं, एक बार राजा परीक्षित के सामने हाथ जोड़कर महाराज कलियुग प्रार्थना करने लगे कि आपके राज्य में रहने के लिए मुझे भी कोई स्थान बताइये।

इस पर विचार कर परीक्षित ने कहा—"जहाँ चोरी, जुआ, शराब और वेश्या हो, वहाँ तुम अपना अड्डा जमा लो; परन्तु ये चारों जहाँ एक साथ रहते हों, वह स्थान कैसे ढूँढ़ोगे? उसने ढूँढ़ना हो तो सम्पत्ति की प्रचुरता वाला स्थान देखो—

बधिरयति कर्णविवरम्, वाचं मूकयति नयनमन्धयति।
विकृतयति गात्रयष्टिम्, सम्पद् रोगोऽयमद्‌भुतो राजन्॥

[सम्पत्ति एक ऐसा अद्‌भुत रोग है, जो कानों को बहरा, वाणी को गूंगा, आंखों को अन्धा और शरीर को विकारयुक्त बना देता है।]

एक अन्य कवि ने सम्पत्ति की निन्दा में कहा है—

अर्जुनीयति यदर्जने जनो,
वर्जनीयजनतर्जनादिभिः।
मक्षु नश्यति चिराय सञ्चिता,
वञ्चिता जगति के न सम्पदा॥

[निन्दनीय पुरुषों की डांट-फटकार सुनकर भी लोग अर्जुन की तरह जिसके अर्जन में लगे रहते हैं, वह चिरसंचित सम्पत्ति भी शीघ्र नष्ट हो जाती है। भला कौन हैं जिन्हें उसने ठगा न हो?]

३७ निन्दा

मैंने पाया बोध, सुन-सुन चोखे[1] चोपदे।
जीत लिया निज क्रोध, कोई गाली क्यों न दे ?

पण्डित प्रवर महामना मदनमोहन मालवीय के सामने एक युवक आया। उसने कहा कि मैंने अच्छे-अच्छे सज्जनों की सूक्तियाँ पढ़-सुनकर अपने मन को साध लिया है। अब कठोर से कठोर वचन भी मुझे क्षुब्ध नहीं कर सकते। मैं जानता हूं:—

"अहो वयइ कोहेणं।"

[क्रोध से आत्मा का पतन होता है।]

पतन से आत्मा की रक्षा करने के लिए मैंने गुस्सा करना छोड़ दिया है। हजारों गालियाँ सुनकर भी मैं गुस्सा नहीं करता। आप चाहें तो गालियाँ देकर मेरी परीक्षा कर लें।

मालवीयजी ने हँसते हुए कहा:—"भाई! मैं इतना मूर्ख नहीं हूं कि तुम्हें गुस्सा दिलाने से पहले अपनी जीभ गालियों से गन्दी करूं। कहा है:—

मूर्खं रसना परापवादगूथं समुद्धरेत्।

(मूर्खों की जीभ ही पर-निन्दा रूपी विष्ठा को साफ करती है या उठाती है।)

और भी कहा है:—

स्व-प्रशंसेवान्यनिन्दा, सतां लज्जाकरी खलु।

(आत्म-प्रशंसा के समान पर-निन्दा भी सज्जनों को लज्जित करती है।)

---

१. चोखे चोपदे—सुभाषित पद्य।

३९ निष्पाप जीवन

शिव के शव को देखकर, पापी डरे अतीव।
उस अछूत को धन्य है, जिसने किया सजीव॥

सच्चा भक्त कौन है? इसका निर्णय किसी व्यक्ति के निष्पाप जीवन को देखकर ही किया जा सकता है। विष खाने वाला मरता ही है; भले ही विष खाते हुए उसको किसी ने न देखा हो—

जह वा विसगंडूसं, कोई घेत्तूण नाम तुण्हिक्को।
अण्णेण अदीसंतो, किं नाम ततो न व मरिज्जा?

(जिस प्रकार दूसरों की आँख बचाकर कोई चुपचाप विष खा ले तो क्या वह नहीं मरेगा? अवश्य मरेगा। उसी प्रकार चुपचाप पाप करने वाला भी दुःख अवश्य भोगेगा।)

कहते हैं, एक दिन शिवजी शव बनकर लेट गये। पास ही पार्वती शोक मुद्रा में बैठकर विलाप करने लगी—"दयालु भक्तो! मुझ दुखिया का उद्धार करो। मेरे प्राणनाथ को जीवित करो। ये किसी भी ऐसे भक्त के छूने से जीवित हो सकते हैं, जिसका जीवन बिल्कुल निष्पाप रहा हो।"

किसी धार्मिक मेले का अवसर था। लाखो भक्तों की भीड़ ने यह पुकार सुनी; किन्तु एक हरिजन को छोड़ कर किसी को शव छूने का साहस न हुआ। उस हरिजन के छूते ही शिवजी तत्काल उठ बैठे। आश्चर्य और हर्ष के साथ सबने यह घटना देखी तथा उस निष्पाप भक्त की प्रशंसा की। कहा भी है:—

"इह लोगे सुचिन्ना कम्मा इह लोगे सुहफलविवागसंजुत्ता भवन्ति"

(इस जीवन में किये गये सत्कर्म इस जीवन में सुखदायक होते हैं।)

४१ न्याय

दो टुकड़े तत्काल ! सुन वह दिल में हिल गई।
कैसी अद्भुत चाल ! असली माता मिल गई ॥

एक सेठजी की दो पत्नियाँ थीं—कान्ता और शान्ता। शान्ता से हुए एक पुत्र को छोड़कर वे स्वर्गवासी हो गये। कुछ ही दिनों बाद कान्ता और शान्ता में पुत्र को लेकर विवाद पैदा हो गया। प्रत्येक का यह दावा था कि पुत्र उसी का है, दूसरी का नहीं। मामला राजदरबार में पहुंचा। असली माता की परीक्षा कैसे की जाय ? यह समस्या खड़ी हो गई। वहाँ की महारानी मंगला ने सोचा:—

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते, निघर्षण-च्छेदन-ताप-ताडनैः।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते, त्यागेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥

(जिस प्रकार घिस कर, काट कर, तपा कर और पीट कर चार तरह से सोने की परीक्षा की जाती है, उसी प्रकार त्याग, शील, गुण और कर्म से पुरुष की परीक्षा की जाती है।)

महारानी को परीक्षा एक अद्भुत उपाय सूझा। उसने आदेश दिया कि इस बालक के तत्काल दो टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा दोनों को दे दो।

आदेश सुनकर कान्ता चुप रही; किन्तु शान्ता ने गिड़गिड़ा कर कहा:—"आप यह बालक कान्ता को दे दीजिये, किन्तु टुकड़े मत कीजिये। मैं उसे जीवित देखकर ही सन्तुष्ट रहूँगी।"

इससे परीक्षा हो गई। महारानी ने बालक शान्ता को सौंप दिया। वही असली माता थी, जो त्याग करने को तैयार हो गई थी। सबने इस न्याय की प्रशंसा की।

एको हि चक्षुरमलः सहजो विवेकः ॥

(सहज विवेक ही एक मात्र निर्मल नेत्र है।)

४३ परतन्त्रता

हुए गुलामी छोड़कर, प्रभु के भक्त अनन्य।
रूपगोपस्वामिन् ! तुम्हें, धन्य-धन्य अति धन्य ॥

बाहर मूसलाधार वर्षा हो रही थी। घर में खाने को कुछ नहीं था। एक पत्नी अपने पति से भीख माँग कर कुछ लाने को कह रही थी। उत्तर में पति तीखे स्वर में बोल रहा था: – 'अरी मूरख ! ऐसी घोर वर्षा में तो गुलाम या नौकर को छोड़कर कोई दूसरा बाहर नहीं जा सकता। यहाँ तक कि कुत्ता भी बाहर नहीं निकलता; फिर मैं तो मनुष्य हूं !"

भिखारी की यह बात बादशाह अल्लाउद्दीन के बंगाली वजीर रूपगोप स्वामी सुन रहे थे, जो उस समय अपने कार्यालय (राजमहल) को जाते हुए उस गरीब की झोंपड़ी के निकट होकर गुजर रहे थे। भिखारी के कथन ने उनके हृदय को झकझोर कर रख दिया। मन-ही-मन अपने आराध्य से वे प्रार्थना करने लगे:—

स्वतन्त्रो देव ! भूयासं, सारमेयोऽपि वर्त्मनि।
मा स्म भूवं परायत्त-स्त्रिलोकस्यापि नायकः ॥

(हे देव ! मैं स्वतन्त्र रहूँ, भले ही इसके लिए रास्ते का कुत्ता बनना पड़े; परन्तु पराधीन त्रिलोकनायक भी न बनूँ।)

राज दरबार में पहुंचते ही उन्होंने अपना त्याग पत्र बादशाह के सामने रख दिया और वहाँ से सीधे ही चैतन्य महाप्रभु के चरणों के निकट पहुंच कर वे उनके शिष्य बन गये। कहा भी है कि परतन्त्र जीवन कुत्ते से भी गया बीता है:—

सेवा श्ववृत्तिर्यैरुक्ता, न तैः सम्यगुदाहृतम्।
स्वच्छन्दचारी क्व श्वा, विक्रीतासुः क्व सेवकः ?

(सेवा को कुत्ते की जीविका बताने वालों ने ठीक उदाहरण नहीं दिया। भला स्वच्छन्दचारी कुत्ता कहाँ और प्राण बेचने वाला सेवक कहाँ ?)

४५ परोपकार

कीचड़ में सूअर फंसा, देख जगा सौजन्य।
लिंकन धन्य अमेरिकन, प्रेसीडेंट अनन्य॥

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन एक दिन अपनी संसद में जा रहे थे। मार्ग में उन्हें एक सूअर कीचड़ में फँसकर बाहर निकलने के लिए छटपटाता हुआ दिखाई दिया। कार से उतर कर लिंकन तत्काल सूअर के पास पहुंचे और उसे बाहर निकालकर आगे बढ़ गये। कहा भी है—

"परोपकारः कर्तव्यः प्राणैरपि धनैरपि।"

[प्राणों की बाजी लगाकर भी और धन से भी परोपकार करना चाहिये।]

संसद के सदस्यों ने जब देखा कि राष्ट्रपति की पोशाक पर कीचड़ के धब्बे लगे हैं, तब उन्होंने ड्राइवर से पूछकर उसके कारण का पता लगा लिया। फिर प्रसन्न होकर वे उनके उस दयापूर्ण कार्य की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करने लगे।

यह सब देखकर निरभिमानी लिंकन ने उत्तर दिया—"आप मेरी प्रशंसा व्यर्थ कर रहे हैं। मैंने कोई प्रशंसनीय कार्य नहीं किया है। सूअर को छटपटाते देखकर मेरा मन भी छटपटाने लगा था। सूअर को बाहर निकाल कर मैंने अपने ही मन का दुःख बाहर निकाला है।"

परोपकृतिकैवल्ये, तोलयित्वा जनार्दनः।
गुर्वीमुपकृतिं मत्वा, अवतारान् दशाग्रहीत्॥

[परोपकार और कैवल्य को विष्णु ने तोला तो परोपकार को भारी पाकर उन्होंने दस अवतार लिये।]

४७ परोपकार

सारंगी-संगीत से, वरसा स्वर्ण अपार।
वही कला है धन्य जो. करती पर उपकार॥

एक अन्धा आदमी था। वह जगह-जगह बैठकर सारंगी वजाया करता था। सामने अपनी टोपी रख दिया करता था। सारंगी पर धुन सुन-सुन कर लोग जो भी सिक्के टोपी में डाल देते, उन्हीं से वह अपना पेट पालता था।

एक दिन उसे किसी ने एक भी सिक्का नहीं दिया। दिन-भर सारंगी वजाने से वह बुरी तरह थक चुका था। उधर से एक संगीतज्ञ आ निकला। अन्धे की दुर्दशा ने उसके हृदय में परोपकार की वृत्ति जगा दी—

अष्टादशपुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय पर-पीडनम्॥

[महर्षि-व्यास ने अठारह पुराणों में केवल दो ही वातें लिखी हैं—(१) परोपकार से पुण्य होता है और (२)—पर-पीड़ा से पाप।]

अन्धे से सारंगी माँगकर उस कलाकार ने अपनी पूरी योग्यता का प्रदर्शन करते हुए ऐसी-ऐसी आकर्षक धुनें वजाई कि सामने सिक्कों का ढेर लग गया। वह सारंगी सौंपकर वहाँ से चुपचाप चल पड़ा। इतने सिक्के पाकर अन्धे की गरीवी वर्षों के लिए भाग गई।

कलाकार ने निःस्वार्थ परोपकार में अपनी कला का कितना अच्छा उपयोग किया!

आत्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति॥

[अपने लिए इस संसार में कौनसा मनुष्य जीवित नहीं रहता? किन्तु जो परोपकार के लिए जीवित रहता है, वास्तव में वही जीवित है! (शेष सव मुर्दे हैं।)]

४९ पुरुषार्थ

बी० ए० बाबू ने किया, झाडू का भी काम।
फिर श्रम से विश्वास से, पाये ढेरों दाम।।

एक निर्धन युवक ने बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद नौकरी की तलाश की। जब अपनी डिग्री के योग्य नौकरी खोजने में उसे सफलता नहीं मिली तब उसने कोई भी काम करने के लिए अपनी कमर कस ली।

वह एक सेठजी के पास गया और चार आने प्रतिदिन की मजदूरी पर दूकान की झाड़ू लगाने का काम हाथ में लेकर करने लगा—

उद्यमेन हि सिद्ध्यन्ति, कार्याणि न मनोरथैः।
न हि सुप्तस्य सिंहस्य, प्रविशन्ति मुखे मृगाः॥

[उद्यम से ही कार्य सिद्ध होते हैं, मनोरथमात्र से नहीं; सोते हुए सिंह के मुँह में पशु नहीं घुस जाते।]

युवक की श्रमशीलता से प्रभावित होकर सेठजी ने उसका पारिश्रमिक बढ़ा दिया। धीरे-धीरे उसकी प्रामाणिकता से प्रेरित होकर उसे अपना हिस्सेदार बना लिया। इस प्रकार वह बेकार निर्धन युवक अपने कठोर परिश्रम से बहुत बड़ा धनवान् बन गया।

किसी ने ठीक ही कहा है—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः।

[उद्योग करने वाले पुरुषरूपी सिंह के पास लक्ष्मी (स्वयं ही) आती है! (आलसी पुरुष से वह दूर भागती है; इसलिए सबको पुरुषार्थ करना चाहिये।)] □

५१ प्रजापालन

सिंहासन पर बैठते, पाते जो सत्कार।
पालें प्रजा दयालु बन, यह उनका अधिकार॥

इटली देश की रानी मारग्रेट कोई पहाड़ी रास्ता पार कर रही थी कि अकस्मात् आकाश काले बादलों से ढँक गया। पहले भीषण आँधी चली और फिर मूसलधार बरसात होने लगी। रानी ने एक बँगले का आश्रय लिया।

रानी को आती देखकर बँगले के सभी कर्मचारी अपने-अपने परिवार के साथ बँगले से बाहर निकलने लगे; क्योंकि—

राजा जोगी अगनि जल, इनकी उल्टी रीत।
दूरा रहिये 'परशुराम', थोड़ी पालें प्रीत॥

परन्तु रानी ने यह सब देखकर कहा—"मैं रानी हूँ, प्रजा की रक्षा मेरा कर्तव्य है। आप अपने परिवार–सहित फिर से इस बंगले में चले आइये। यदि जगह न होने पर बैठ न सकें तो हम सब खड़े रहेंगे और यह संकट का समय पार करेंगे"।

रानी के इस सहानुभूतिपूर्ण वक्तव्य से सभी कर्मचारी प्रसन्न हुए और प्रशंसा करते हुए कहने लगे—

कल्पद्रुमो न जानाति, न ददाति बृहस्पतिः।
अयं तु जगतीजानिर्जानाति च ददाति च॥

[कल्पवृक्ष देता है, पर जानता नहीं और बृहस्पति जानता है, पर दान नहीं करता; परन्तु यह पृथ्वी का नृप जानता भी है और देता भी है]

राजा ज्ञानी भी हो और दानी भी तो वह कल्पवृक्ष से भी बढ़ जाता है और बृहस्पति से भी। प्रजापालन का धर्म वह निभाता है। □

५३ प्रामाणिकता

प्रामाणिकता चाहिये, निर्धन के भी चित्त।
ढेले के ही तुल्य है, सकल पराया वित्त॥

एक सेठजी थे। वे किसी कार्यवश एक गांव में गये। वहां वे एक गरीब की झोंपड़ी में विश्राम के लिए ठहरे। लौटते समय ध्यान न रहने से उनकी रुपयों से भरी एक थैली उस झोंपड़ी में छूट गई। सेठजी ने सोचा कि कहीं रास्ते में गिर गई होगी और किसी ने उठा ली होगी – इसलिए अब उसके मिलने की सम्भावना नहीं है। धीरे-धीरे वे उस घटना को भूल गये।

गरीब पूरा ईमानदार था। वह जानता था कि परिश्रम का पैसा ही टिकता है बेईमानी का नहीं, जैसा कि रहीम ने कहा है--

'रहिमन' वित्त अधर्म को, जरत न लागे वार।
चोरी करि होरी रची, भई छिनक में छार॥

उसने थैली को सँभाल कर रख लिया। एक बार सेठजी लगभग तीन महीने बाद उसी गांव में आकर उसी झोंपड़ी में ठहरे। उन्हें पहचानकर उस गरीब ने सेठजी के सामने उनकी थैली रख दी और कहा "मुझे आपका पता नहीं मालूम था; अन्यथा मैं स्वयं आकर आपकी थैली आपको सौंप देता।"

उसकी ईमानदारी से प्रसन्न होकर सेठजी वह थैली ही इनाम में उसे देने लगे; किन्तु उसने नहीं ली। फिर उसके पुत्र को अपना हिस्सेदार बना लिया और इस प्रकार उसकी गरीबी मिटा दी।

अज धन गजधन बाजिधन, सर्व रत्न धन खान।
जब आवै सन्तोष धन, सब धन धूरि समान॥

□

५५ प्रामाणिकता

गंगू हसन पठान,
दोनों का अद्भुत कलह।
सुन भूपति ने ध्यान,
दिया, कराई फिर सुलह॥

गंगू ब्राह्मण ने सेवा सहायता से प्रसन्न होकर हसन पठान को खेती के लिए जमीन का एक हिस्सा भेंट कर दिया।

हल चलाते हुए हसन को उस खेत में तांबे का एक घड़ा मिला, जिसमें सोने के बहुमूल्य गहने भरे पड़े थे। वह जानता था—

द्रव्यलुब्धस्य नो सत्यम्।

[द्रव्य के लोभी को सत्य नहीं मिलता।]

परन्तु वह स्वयं द्रव्य का लोभी नहीं था। पराये धन को वह धूल समझता था। उसने सारा धन ब्राह्मण को दे दिया और कह दिया कि बिना श्रम के अकस्मात् जो धन प्राप्त हुआ है, उस पर आपका अधिकार है। गंगू भी कम प्रामाणिक नहीं था। उसका कथन था कि जब खेत भेंट कर दिया तो उसकी प्रत्येक वस्तु पर पठान का ही अधिकार हो गया। दोनों धन स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। अन्त में वहाँ के राजा ने धन खजाने में जमा करा दिया और दोनों की प्रामाणिकता से प्रसन्न होकर हसन को सेनापति तथा गंगू को मन्त्री बना लिया।

प्रजा में इन तीनों की प्रशंसा हुई—

"सच्च जसस्स मूल॥

[सत्य यश का मूल कारण है।] ◻

५७ प्रेम

यदि मैं अन्धी बन गई, पाकर लौकिक प्रेम।
आप सूझते क्यों रहे ? यही आपका नेम ?

जब एक स्त्री ने यह सुना कि वर्षों से परदेश गया उसका पति आज लौटकर आ रहा है, तो आनन्दमग्न होकर उससे मिलने के लिए वह चल पड़ी।

दूरंगयेवि कयविप्पियेवि अन्नत्य बद्धराएवि।
जत्य मणो न वलिज्जइ त पेम्म परिचओ सेसो॥

(दूर जाने पर भी, अपनी बुराई करने पर भी और दूसरों से अनुराग करने पर भी जिससे मन निवृत्त न हो, वही वास्तविक प्रेम है, बाकी सब तो परिचय मात्र है।)

रास्ते में बादशाह अकबर नमाज पढ़ रहे थे। स्त्री अपनी धुन में मग्न चली जा रही थी। वह बादशाह से टकरा गई। बादशाह ने उस समय तो कुछ नहीं कहा; किन्तु बाद में उसे बुलाकर डाँटा—"क्या तू अन्धी है ?"

इस पर उसने उत्तर दिया :—"हाँ, प्रेम अन्धा होता है। मैं अपने प्रेमी से मिलने जा रही थी; इसलिए अन्धी ही थी; परन्तु आप भी तो प्रभु से प्रेम कर रहे थे न ? फिर आप सूझते कैसे रह गये ? यदि आप भगवान् का ध्यान कर रहे थे तो आपको मैं सूझी कैसे ?"

बादशाह ने अपनी भूल कबूल की और उस औरत को भरपूर इनाम दिया। प्रेम ने ही उस औरत में पाण्डित्य भर दिया।

पढ़-पढ़ कर पत्थर भये, पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्खर प्रेम का, पढ़े सो पण्डित होय॥

□

हँसते हँसते विष पिया, करने पति का त्राण।
कलावती को धन्य है, जिसने त्यागे प्राण॥

अलाउद्दीन खिलजी ने महाराज कर्णसिंह पर युद्ध में विष मुझे वाणों का प्रयोग किया। इससे समरांगण में ही वे मूर्च्छित होकर गिर पड़े।

खबर ज्यों ही महाराज की पत्नी कलावती के कानों में पहुँची, त्यों ही वह तलवार हाथ में लेकर समरांगण में कूद पड़ी। वह वीर कन्या तलवार चलाने की कला में कुशल थी। थोड़े ही समय में उसने अपने प्रबल प्रत्याक्रमण से शत्रुओं को खदेड़ दिया।

फिर वह अचेत महाराज के निकट पहुंची। किसी ने कहा कि मुँह से जहर चूस लिया जाय तो महाराज बच सकते हैं। रानी ने अपने पति को जीवित करने के लिए जहर चूसकर परलोक की राह ली।

शतेषु जयते शूरः।

(सैंकड़ों में कोई एक शूरवीर होता है।)

परन्तु महारानी कलावती में शूरता भी थी और उदारता भी। वह अपने जीवन से एक आदर्श प्रस्तुत कर गई। आग्रह करने पर भी महाराज कर्णसिंह ने फिर दूसरा विवाह नहीं किया। उनका कहना था :—"मेरे प्रेम के लिए जिसने प्राण छोड़ दिये, उसके प्रेम के लिए क्या मैं वासना भी नहीं छोड़ सकता ?"

मुहब्बत के विषय में एक शेर प्रसिद्ध है -—

मुहब्बत की दुनिया में सब कुछ हसीं है।
मुहब्बत नहीं है तो कुछ भी नहीं॥

□

६१ प्रेम

अपना है वह देश, न निष्फ न जिससे द्वेष हो।
प्रेम भरा हो, लेश-मात्र भी नहीं क्लेश हो॥

बात उस समय की है, जब जापान और रूस के बीच युद्ध चल रहा था। योकोहोमा नामक शहर में एक रूसी युवक आकर बस गया और वहानसान नामक एक सुन्दर जापानी लड़की से उसने विवाह भी कर लिया।

पति पत्नी से कोई बात छिपाता नही था। दोनों के विश्वास पर उनका दाम्पत्य प्रेम बढ़ रहा था और कबीरदासजी के शब्दों में वह प्रेम वैकुण्ठ के सुख को भी फीका कर रहा था: –

राम बुलावा भेजिया, दिया कबीरा रोय।
जो सुख प्रेमी संग में, सो वैकुण्ठ न होय॥

फिर भी एक पेटी ऐसी थी, जिसे वह पत्नी की नजरों से दूर रखने की कोशिश करता था। पत्नी को उसे जानने की उत्सुकता थी। एक रात अपने पति को अधिक मदिरा पिलाकर उसने सुला दिया और पेटी खोल ली। उसमें रखे कागज और दस्तावेज देखने पर पता चला कि वह युवक तो अपने देश (रूस) का गुप्तचर है। जापानी युवती का भी देश-प्रेम उमड़ पड़ा। उसने वह पेटी पुलिस को सौंप दी। अपना भेद खुल जाने पर युवक भी रूस चला गया।

वहानसान ने देश-प्रेम के लिये अपने सुखी जीवन का—दाम्पत्य-स्नेह का त्याग कर दिया।

वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुअं सारइयं व पाणियं।

(शरद्ऋतु का कमल जैसे पानी से निर्लिप्त रहता है, वैसे ही अपने स्नेह का त्याग कर दो।) □

६३ बन्धुता

राजा हो यदि ढंग का, रहता कौन अनाथ ?
धन्य-धन्य विक्टोरिया, दिया शोक में साथ ॥

एक बार महारानी विक्टोरिया एक घोड़ा गाड़ी में सवार होकर घूमने निकली। रास्ते में उसकी नजर एक शिशु पर पड़ी, जिसे दफनाने (या जलाने) के लिये ले जाया जा रहा था; परन्तु ले जाने वाले केवल तीन प्राणी थे—शिशु के पिता थे; उसकी माता और बहन थी। धनवान के घर की शव यात्रा में सैंकड़ों-हजारों व्यक्ति शामिल होते हैं; परन्तु गरीब की शव यात्रा में कौन जाता है ?

महारानी के हृदय में उस परिवार के प्रति संवेदना जाग उठी। किसी ने ठीक ही कहा है :—

रविः करसहस्रेण, दशाशापरिपूरकः ।
त्वमेकेन करेणैव, सहस्राशाप्रपूरकः ॥

(सूर्य हजार करों (किरणों) से दश आशाओं (दिशाओं) की पूर्ति करता है; परन्तु तुम एक ही कर (दान देने वाले हाथ) से हजार व्यक्तियों की आशाओं (इच्छाओं) की पूर्ति करते हो।)

उस परिवार की आशा के अनुकूल अपने सभी अंगरक्षकों के साथ रानी उस दिन उस शिशु की शव यात्रा में शामिल हो गई। वह श्मशान तक पैदल गई। इस प्रकार उसने अपनी प्रजापालकता और बन्धुता का आदर्श प्रस्तुत किया। कहा भी है :—

उत्सवे व्यसने चैव, दुर्भिक्षे राष्ट्रविप्लवे ।
राजद्वारे श्मशाने च, यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥

(उत्सव, व्यसन, दुर्भिक्ष, राष्ट्र क्रान्ति, राज द्वार और श्मशान में जो ठहरता है (दूर नहीं चला जाता), वही सच्चा बन्धु है।)

□

६५ बुद्धि

बुद्धि वड़ी वलवान,
तानसेन की तान से।
साबित हुई, प्रमाण-
पत्र मिला जव शान से ॥

एक दिन अकवर ने वीरवल और तानसेन से कहा कि तुम दोनों में से जो भी कोई महाराणा प्रताप को प्रसन्न करके उनसे प्रमाण पत्र प्राप्त कर लेगा, मैं उसी को अधिक उत्तम मानूँगा।

दोनों महाराणा के पास पहुँचे। आने का प्रयोजन वताया। फिर तानसेन ने अपना सुमधुर संगीत सुनाकर महाराणा को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। वीरवल के पास ऐसी कोई कला नहीं थी। केवल बुद्धि थी, किन्तु वह भी कम नहीं थी। उसने सोचा—

उपायेन हि यत्कुर्यात्तन्न शक्यं पराक्रमैः।

[उपाय से जो किया जा सकता है, वह पराक्रम से नहीं किया जा सकता।]

वीरवल ने तत्काल एक चिट्ठी लिखी और महाराणा को दे दी। चिट्ठी पढ़ते ही महाराणा ने प्रमाण पत्र वीरवल को दे दिया। तानसेन खाली हाथ लौटा। भरे दरवार में जव बीरवल से पूछा गया तो उसने अपनी चिट्ठी में लिखी वात कह सुनाई। उसने लिखा था—"रास्ते में तीर्थराज पुष्कर के दर्शन कर मैंने यह सकल्प किया है कि प्रमाणपत्र मिलने पर मैं सौ गायों का दान करूँगा, किन्तु तानसेन ने अजमेर की दरगाह में यह संकल्प किया है कि प्रमाणपत्र मुझे मिल गया तो मैं सौ गायों को कटवाकर भेंट करूँगा।" इससे महाराणा का विचार वदल गया। □

"जहाँ सुमति तहँ सम्पत्ति नाना।"

६७ भावना

चिड़िया की आवाज,
लगा-लगाकर कान सुन।
कहने लगा समाज,
भावों के अनुसार गुन॥

एक पेड़ पर एक चिड़िया चहक रही थी। नीचे बैठे व्यक्ति सोचने लगे कि वह क्या कह रही है। इस पर भिन्न-भिन्न उत्तर सामने आये, जो इस प्रकार है—

एक भक्त —"राम सीता दशरथ! राम सीता दशरथ!!"
एक बनिया — "धनिया मिर्ची अदरक! धनिया मिर्ची अदरक!!"
एक पहलवान—"दण्ड कुश्ती कसरत! दण्ड कुश्ती कसरत!!"
एक मुसलमान—"अल्लाह तेरी कुदरत! अल्लाह तेरी कुदरत!!"
एक बुढिया — "चरखा पूनी चमरख! चरखा पूनी चमरख[1]!!"

प्रत्येक व्यक्ति का यह दावा था कि चिड़िया वही कह रही है, जो हम समझ रहे हैं; परन्तु सच पूछा जाय तो चिड़िया इन दावेदारों में से किसी की भी बात नहीं दुहरा रही थी। वह तो अपनी भाषा में अपने भावों के अनुसार अपने साथियों को अपनी बात समझा रही थी। उसे वे समझ भी रहे थे; परन्तु चिड़िया की ध्वनि व्यक्तियों के लिए सर्वथा अस्पष्ट थी; किन्तु व्यक्ति अपने-अपने भावों के अनुसार चिड़िया की ध्वनि को स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे थे—

जाकी रही भावना जैसी,
प्रभु मूरत देखी तिन तैसी।

□

---

१. चमरख = चरखे में लगाने की चकती।

६९ मित्रता

अपने प्यारे मित्र का, टिका रहे सम्मान।
धन्य परीक्षार्थी ! तुझे, तेरा इस पर ध्यान ॥

कलकत्ते की बात है। दो घनिष्ट मित्र थे—महेश और सुरेश। पहला सदा प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होता था और दूसरा द्वितीय में। दोनों साथ-साथ पढ़ते थे।

एक बार महेश की माँ बीमार पड़ गई। माँ की सेवा में उसका काफी समय गुजरने लगा। अन्य छात्रों को विश्वास था कि इस बार परीक्षा फल उलट जायगा; परन्तु विश्वास के विपरीत सब ने आश्चर्य से देखा कि परीक्षाफल पूर्ववत् रहा। महेश पहली श्रेणी में ही उत्तीर्ण हुआ और सुरेश दूसरी श्रेणी में। आखिर उत्तर पुस्तिकाओं की जाँच करने पर पता चला कि सुरेश ने एक प्रश्न का उत्तर ही नहीं लिखा था। प्रश्न उसे आता था; फिर भी मित्र का सम्मान सुरक्षित रखने के लिए उसने जानबूझकर एक प्रश्न छोड़ दिया था।

कहा भी है—

करावित्र शरीरस्य, नेत्रयोरिव पक्ष्मणी।
अविचार्य प्रियं कुर्यात्तन्मित्रं मित्रमुच्यते ॥

[जैसे हाथ शरीर की और पलकें आँखों की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार जो विना विचारे प्रिय करता है (भलाई का काम करता है), वही मित्र वास्तव में मित्र कहलाता है; (दूसरा नहीं)।

मित्र का यह लक्षण है—

तन्मित्रमापदि सुखे च समक्रियं यः।
[सुख और दुःख में जो साथ रहता है, वही मित्र है।]

□

७१ मौन

परम शान्ति का धाम, था अपनाया मौन जो।
वह पशुओं का काम, रहें सर्वदा मौन जो॥

वर्षावास के वाद मुनियों के एक संघ ने महात्मा बुद्ध के दर्शन कर निवेदन किया कि चातुर्मास में हम लोगों का सहवास पूर्ण शान्तिमय रहा। कारण पूछने पर मुनियों ने बताया कि हम सब मौन रहे—

मौनिनः कलहो नास्ति।

[जो मौन रहता है, वह कलह नहीं कर सकता।]

हमने सारी पारस्परिक बातचीत संकेतों में ही की। इसके लिए संकेत पहले ही निश्चित कर लिये गये थे।

महात्मा बुद्ध ने गम्भीरतापूर्वक कहा—आप लोगों ने पशुओं की तरह मौन रहकर वर्षावास बिताया इसमें मानवता क्या हुई? यदि गृहस्थों ने आप लोगों के बदले पशुओं का झुण्ड रखकर उसे खिलाया—पिलाया होता, पाला-पोसा होता तो वह अधिक उपयोगी भी होता और अधिक सस्ता भी। मौन रहना कोई आदर्श धर्म नहीं है। केवल मौन रहने से कोई मुनि नहीं हो जाता; क्योंकि वाणी में कितना संयम है—कितना विवेक है, इसकी जानकारी मौन से नहीं, बोलने से ही होती है।"

किसी ने ठीक ही कहा है—

मितं च सारं च वचो हि वाग्मिता।

[कम और सारगर्भित बोलना ही वाक्पटुता है।]

७३ लोभहीनता

कैसी थी वह भूल, जो कर डाली आपने।
भला धूल पर धूल, कौन डालता सामने॥

राँका एक लकड़हारा था, बाँका उसकी पत्नी का नाम था। एक दिन लकड़ी काटने के लिए दोनों जंगल में एक पगडण्डी पर चले जा रहे थे। राँका आगे था। बाँका पीछे थी।

राँका की नजर मार्ग में पड़े हुए एक सोने के कड़े पर पड़ी; किन्तु वह तो पूर्ण निःस्पृह था। परिश्रम से पैदा होने वाले धन को ही वह अपना समझता था। पराये धन पर आसक्ति उसमें नहीं थी :—

"निःस्पृहस्य तृणं जगत्।"

(इच्छारहित के लिए पूरा जगत् तिनके के समान तुच्छ होता है।)

राँका आगे बढ़ना चाहता था; परन्तु उसे आशंका हुई कि इस कड़े पर कहीं बाँका का मन ललचा न जाय। फलतः उसने अंजलि भर कर धूल उस पर डाल दी। बाँका ने ऐसा करते हुए राँका को देख लिया। पास पहुंच कर बाँका ने अपना कुतूहल शान्त करने के लिए पूछा कि आप उस समय धूल किस पर डाल रहे थे। राँका ने बताया कि वह एक सोने का कड़ा था। बाँका ने कहा—"तब तो आपने बड़ी भूल की, जो व्यर्थ इतना कष्ट उठाया। पराया धन तो धूल होता है। आपने भला धूल पर धूल क्यों डाली?"

परद्रव्येषु लोष्टवत्।

(पराने धन को मिट्टी का ढेला ही समझो।) □

७५ विनय

नर-मस्तक का दाम, मिलने से यदि रुक गया।
हुआ बुरा क्या काम ? मुनि चरणों में झुक गया ॥

सम्राट अशोक सभी बौद्ध साधुओं को सिर झुकाकर वन्दन करते थे। मन्त्री ने इस पर आपत्ति प्रस्तुत करते हुए कहा कि सभी साधु समान ज्ञानी, संयमी और त्यागी नहीं होते; इसलिए जब तक गुणों का परिचय प्राप्त न हो जाय, तब तक केवल साधु वेष देखकर वन्दन करना कैसे उचित हो सकता है।

नारी मुई घर सम्पत्ति नासी, मूंड मुंडाय भये संन्यासी।

सम्राट ने उसी समय कुछ भेड़-बकरियों के सिर मँगवाये। मन्त्री जी से कहा गया कि इन्हें बेच आयें। मन्त्री जी ने आदेश का पालन किया। फिर एक मनुष्य का सिर भेजा गया जिसे किसी ने नहीं खरीदा।

सम्राट ने मन्त्री से पूछा कि लोग इसी सिर को तुच्छ समझते हैं या सभी मनुष्यों के सिरों को। मन्त्री ने स्पष्ट कहा कि जनता में मनुष्य मात्र के सिर को तुच्छ समझने की भावना है। इस पर सम्राट ने कहा कि तब तो मेरा सिर भी लोग तुच्छ ही समझेंगे। जो तुच्छ है, वह यदि साधुओं के चरणों पर झुक गया तो क्या बुरा हो गया ? विनय का महत्व किसी भी गुण से कम नहीं है :—

सदो भूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः।

(सभा की शोभा सूक्ति से और समस्त गुणों की शोभा विनय से है।) 

उतर न सकता भार, माता के उपकृत्य का।
विनीत सुत तैयार, कार्य निभाने मृत्य का॥

रात को नौ बजे सोने से पहले बुढ़िया ने बेटे से जल मांगा। बेटा जल लेकर आया, तब तक बुढ़िया खुर्राटे भरने लगी। उसके जगने की प्रतीक्षा में बेटा हाथ में जल-भरा लोटा लेकर खड़ा रहा। सुबह छह बजे नींद खुलते ही बुढ़िया को अपनी भूल समझ में आई। उसने क्षमा माँगते हुए प्यार से बालक को पुकार कर कहा "मैं तो पानी माँग कर लेट गई थी और आराम से नींद लेने लगी थी; परन्तु तू तो नौ घन्टे से खड़े रहने का कष्ट उठा रहा है। बड़े भाग्य से ही तुझ-सा पुत्र मिलता है :—

इदं तत्स्नेहसर्वस्व, सममाढयदरिद्रयोः।
अचन्दनमनोशीरं, हृदयस्यानुलेपनम्॥

[यह (पुत्र) स्नेह का सर्वस्व होता है। धनाढ्य और निर्धन के लिए समान रूप से बिना चन्दन और बिना खसखस का लेप है—हृदय को शीतल करने वाला है।]

अब तू थक गया होगा, आजा मेरे पास बैठ जा।"

इस पर पुत्र ने कहा—"तूने मेरे लिए जो कष्ट उठाया है, उसके सामने मेरा कष्ट कुछ भी नहीं है। मैंने नौ घन्टे तक लोटे का भार उठाया है; परन्तु तूने तो नौ महीने तक मेरे पूरे शरीर का भार उठाया है।"

यन्मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या, कर्तुं कल्पशतैरपि॥

(मनुष्यों को जन्म देने में माँ-बाप जो कष्ट सहते हैं, सौ कल्पों तक सेवा करके भी उससे उऋण नहीं हुआ जा सकता।) □

७९ विवाह

रोती दुल्हन जान, हंसना जीवन भर जिसे।
दूल्हा रोयेगा न, रोना जीवन-भर जिसे ॥

विवाहोत्सव था। दुल्हन सोलह वर्ष की थी और दूल्हा पच्चीस वर्ष का। जैसा कि शास्त्र कहते हैं :—

पञ्चविंशे ततो वर्षे पुमान् नारी तु षोडशे।

(पच्चीस वर्ष का पुरुष और सोलह वर्ष की कन्या होनी चाहिए।)

लोग गा-बजा कर खुशियाँ मना रहे थे। बरातियों में से एक बालक ने दुल्हन की ओर संकेत करते हुए अपने पिताजी से पूछा—"पिताजी ! वह रो क्यों रही है ?"

पिताजी ने कहा—'बेटा ! यह आज अपने प्रेमी माता-पिता और कुटुम्बियों से बिछुड़ रही है। सबके प्रति इसकी जो ममता है, वही इसे रुला रही है।"

बालक ने पूछा—"अच्छा पिताजी ! यह दूल्हा क्यों नहीं रो रहा है ?"

पिताजी ने एक दार्शनिक-सी मुद्रा में कहा—"बेटा ! इसे रोने की क्या जल्दी है ? शादी के बाद इसे जीवन-भर रोना ही रोना है। गृहस्थ जीवन की झंझटों से भरी गाड़ी ढोने के लिए परिश्रम के पहाड़ के नीचे इसे पिसना है। तुलसीदास का कहना है—

फूले-फूले फिरत हैं, आज हमारो ब्याव।
'तुलसी' गाय-बजाय के, देत काठ में पांव ॥

□

८१ विवेक

होता अति विस्तार, उत्तर-उत्तर सतत ही।
गये सेठ जी हार, फर न सके वे निज कही।

उदयपुर के एक मन्दिर की सीढ़ी पर कुल चालीस सोपान थे। दर्शनार्थ एक बार वहाँ कोई करोड़पति सेठ आया। वहाँ के पुजारियों ने उससे आग्रह किया कि वह मक्का के कुछ कण भगवान् को भेंट करे। पहले सोपान पर एक, दूसरे पर दो, तीसरे पर चार और चौथे पर आठ कण चढ़ाये जायें। इसी प्रकार हर अगले सोपान पर कणों की संख्या दुगुनी करते हुए चालीसवें सोपान तक पहुंचना है।

सेठ ने इसे सहज साध्य साधारण भेंट माना।

धनमद के कारण विवेक चक्षु वन्द हो जाते हैं:—

मदमूढबुद्धिषु विवेकिता कुतः ?

[घमण्ड मोहित बुद्धि में भला विवेक कहाँ ?)

सेठ ने अपने नौकरों से कुछ वोरे मक्का के मँगवा लिए। गिन-गिनकर कण चढ़ाये जाने लगे। हिसाव करने पर ज्ञात हुआ कि अन्तिम सोपान पर पाँच खरव, उनचास अरव, पचहत्तर करोड़, अट्ठावन लाख, तेरह हजार आठ सौ अट्ठासी कण लगेंगे; फिर सभी सोपानों के कणों के योग की तो वात ही क्या ? उदयपुर की धान मण्डी खाली हो गई; परन्तु कणों की पूर्ति न हो सकी।

सेठ ने हार मान ली और अपनी अदूरदर्शिता के लिए वह अत्यन्त लज्जित हुआ। यह अविवेक का परिणाम था।

हेयोपादेयज्ञानं विवेकः।

(छोड़ने योग्य और अपनाने योग्य के ज्ञान को विवेक कहते हैं।)

□

८३ विवेक

करतो भ्रष्ट विवेक, शिष्यों की अति लालसा।
चेला मूंडा एक, मूर्ख महा जंजाल-सा॥

एक साधु को शिष्य बनाने की इच्छा हुई। उसे जब कोई युवक नहीं मिला, तब एक छोटे बालक को ही अपना शिष्य बना लिया।

बालक बिल्कुल पढ़ा-लिखा नहीं था। उसे 'नमोक्कार मन्त्र" मौखिक रूप से कण्ठस्थ कराया गया। एक-एक पद रोज याद कराया जाने लगा। इस प्रकार 'नमो लोए सव्वसाहूणं" तक कण्ठस्थ होने के बाद "एसो पंच नमुक्कारो" यह पंक्ति रटने को दी गई।

गुरु जी गोचरी को चले गये। बालक खेलने में लग गया। जब वे दूर से आते दिखाई दिये, तब घबरा कर बालक फिर वह पंक्ति इस प्रकार रटने लगा :—

"असा पंचारो मूं कारो"

(ऐसे पंचों का मुंह काला हो।)

गुरु जी ने अपने माथे पर हाथ मारकर कहा कि इन पंचों का मुंह नहीं, बल्कि मेरा ही मुंह काला होना चाहिए, जिसने तुम जैसे अबोध बालक को शिष्य बनाने का लोभ किया।

समझा-समझा एक है, अनसमझा सब एक।
समझा सो ही जानिये, जाके हृदय विवेक॥ 

८५ व्यभिचार

जिसने स्वयं गुनाह, किया न हो मारे वही।
सुनकर पकड़ी राह, ठहर सका कोई नहीं॥

किसी स्त्री ने व्यभिचार का अपराध किया था। उस समय की प्रथा के अनुसार चारों ओर से घेरकर ऐसे अपराधी को प्रत्येक व्यक्ति द्वारा एक-एक पत्थर मारा जाता था। ऐसा ही किया जा रहा था, किसी स्थान पर!

उसे देखकर महात्मा ईसा को दया आ गई—

"दया धम्मस्स जणणी।"

[दया धर्म की माता है—उत्पादिका है।]

इसी दयालुता ने ईसा को महात्मा बना दिया था। उन्होंने हाथ उठाकर पूरी शक्ति से चिल्लाते हुए कहा—"ठहरो! मैं मानता हूँ कि इस स्त्री ने अपराध किया है और इसे दण्ड भी मिलना चाहिये; परन्तु इस पर पहला पत्थर वही मारे जिसने स्वयं कभी व्यभिचार न किया हो– पराई स्त्री की कामना न की हो!"

यह सुनते ही धीरे-धीरे लोगों के हाथ नीचे हो गये। उनके हाथों से पत्थर गिर पड़े। वे एक-एक करके ,वहाँ से खिसकने लगे। मैदान साफ हो गया। औरत ने महात्माजी को प्रणाम किया। भविष्य में वैसा अपराध न करने का संकल्प भी प्रकट किया। उधर लोगों ने भी समझ लिया—

अनार्यः परदारव्यवहारः॥

(पराई स्त्री का समागम अनार्य आचरण है।)

□

सुमन हँसे तो जगत ने, दिया उन्हीं को पीस ।

किन्तु महकते वे रहे, निकली तनिक न टीस ॥

एक वैद्य के घर में गुलाब के फूल पीसे जा रहे थे । उन पर किसी कवि की दृष्टि पड़ गई । मन-ही-मन उनसे कवि ने वार्त्तालाप किया—"आपको जगत् किस अपराध की यह सजा दे रहा है ?"

गुलाब—"हम खिल रहे थे—प्रसन्न हो रहे थे । हमारी प्रसन्नता से जगत् को ईर्ष्या हुई; क्योंकि यह उसका स्वभाव है—

ईर्ष्यी घृणी त्वसन्तुष्टः, क्रोधनो नित्यशङ्कितः ।

[जगत् ईर्ष्यालु है, घृणा करता है, असन्तुष्ट रहता है, क्रुद्ध है और नित्य शंका करता है ।]

इस प्रकार हमारी प्रसन्नता ही हमारा एक मात्र अपराध है !"

कवि—"जगत् का ऐसा कटु अनुभव आपको हुआ है । इसके प्रतिशोध के लिए आप क्या करेंगे ?"

गुलाब - "हम पिसकर भी पीसने वालों को सुगन्ध ही देंगे । दूसरों को सुखी बनाने के लिए मर-मिटने में ही हमें सुख प्राप्त होगा ।"

घृष्टं घृष्टं पुनरपि पुनश्चन्दनं चारुगन्धम् ।

छिन्नं छिन्नं पुनरपि पुनः स्वादु चैवेक्षुदण्डम् ॥

दग्धं दग्धं पुनरपि पुनः काञ्चनं कान्तवर्णम् ।

न प्राणान्ते प्रकृतिविकृतिर्जायते चोत्तमानाम् ।'

(बार-बार घिसा जाकर भी चन्दन सुगन्ध देता है । बार-बार काटे जाने पर भी गन्ना स्वादिष्ट लगता है । बार-बार जलाये जाने पर भी सोना चमकता है । इसी प्रकार प्राणान्त होने पर भी सज्जनों का स्वभाव नहीं बदलता !] □

अवसर जैसी बात, उचित लगे, अनुचित मुधा[1]।
सुन्दर यथा प्रभात, आती श्री[2] जाती क्षुधा[3] ॥

लक्ष्मी और क्षुधा में विवाद हो गया। दोनों अपनी-अपनी महत्ता और सुन्दरता का दावा कर रही थीं। दोनों देवियाँ इन्द्र के पास पहुँचीं कि वे कोई फैसला कर दें। दोनों ने अपनी-अपनी श्रेष्ठता के तर्क प्रस्तुत किये। इन्द्र सुनकर विचार में पड़ गये। जिसके पास लक्ष्मी नहीं होती, वह व्यक्ति अपनी भूख मिटाने के लिए कोई भी पाप करने को तैयार हो जाता है।

बुभुक्षितः किं न करोति पापम् ?

[भूखा व्यक्ति भला कौनसा पाप नहीं करता ?]

दूसरी ओर जिनके पास लक्ष्मी है, वे क्षुधा के लिए तरसते रहते हैं, वे डाक्टरों, वैद्यों और हकीमों को बुला-बुलाकर ऐसी औषधियाँ मांगते हैं जिनके सेवन से क्षुधा जागृत हो; क्योंकि बिना भूख के खाने का सुख ही नहीं मिल सकता। तब दोनों में किसे श्रेष्ठ कहा जाय ?

अन्त में इन्द्र ने अपना निर्णय दिया—"लक्ष्मी तो आती हुई अच्छी लगती है और क्षुधा जाती हुई।"

इस सच्ची बात से दोनों देवियाँ प्रसन्न हो गईं।

"सच्चं वयः पावनं।"

(सच्ची बात पवित्र होती है।)

---

१ मुधा=व्यर्थ, उल्टी। २ श्री=लक्ष्मी। ३. क्षुधा=भूख।

९१ सन्तोष

यदि मन में निर्दोष, सच्चे सुख की कामना ।
अपनाओ सन्तोष, पथ न दूसरा जानना ॥

अभावों से पीड़ित चार व्यक्तियों ने एक महात्मा से अलग-अलग प्रार्थनाएँ कीं—

पहला—"मुझे यश चाहिये ।"
दूसरा—मुझे पुत्र चाहिये ।"
तीसरा—"मुझे धन चाहिये ।"
चौथा—"मुझे सुन्दरी चाहिये ।"
महात्मा ने समझाया—

"सन्तोषः परमं सुखम् ।"

परन्तु भक्तों को यह बात समझ में नहीं आई, तब महात्मा जी ने उन्हें आशीर्वाद देकर विदा कर दिया ।

चारों की इच्छित वस्तुएँ उन्हें मिल गई थीं; फिर भी कुछ दिनों बाद वे पुनः महात्माजी के समीप आकर क्रमशः अपना दुखड़ा रोने लगे—

पहला—"यश तो मिला; परन्तु लोग ईर्ष्या करते हैं ।"
दूसरा—'पुत्र तो मिला, परन्तु वह आज्ञाकारी नहीं है ।"
तीसरा—"धन तो मिला, परन्तु चोरों का डर लगा रहता है ।"
चौथा—"सुन्दरी तो मिली, परन्तु भोग से रोगी हो गया हूं ।"

चारों का कहना था कि हम पहले से अधिक दुःखी हो गये हैं ।
महात्माजी ने अपने पूर्ववचन की याद दिलाते हुए पुनः कहा कि सुख बाहर की वस्तुओं में नहीं, सन्तोष में है—

"सन्तुष्टो परमं धनं ॥"

(सन्तोष ही श्रेष्ठ धन है)

९३ सेवा

जनता की सुखवृद्धि ही, जिसका उत्तम ध्येय।
उस अशोक सम्राट का, सुयश सदा गेय॥

सम्राट अशोक प्रजा के सुख-दुःख का बहुत ध्यान रखता था। याचक तो कोई खाली हाथ जाता ही नहीं था—उसके यहाँ से। एक कवि के शब्दों में—

अपूर्वेयं धनुर्विद्या, भवता शिक्षिता कुतः।
मार्गणौघः समायाति, गुणो याति दिगन्तरम्॥

(यह अनोखी धनुर्विद्या आपने कहाँ से सीखी कि मार्गणों (बाणों, भिखारियों) का समूह तो निकट आता है और गुण (प्रत्यञ्चा, प्रशंसा) की गति दिशाओं के अन्तिम छोर तक चली जाती है?)

एक बार सम्राट ने सभी प्रान्ताध्यक्षों को बुलाकर उनसे अपने कार्यों की रिपोर्ट माँगी। किसी ने कहा—मैंने खजाने में दुगुनी वृद्धि की है तो किसी ने कहा तिगुनी चौगुनी; परन्तु मध्यप्रदेश के अध्यक्ष ने कहा :—"मैंने खजाने से केवल खर्च किया है; क्योंकि प्रजा के सुख के लिए जगह-जगह मैंने औषधालय, अनाथालय, विद्यालय और पुस्तकालय बनवाये हैं।"

सम्राट ने उसकी पीठ थपथपाई और उसके वेतन में वृद्धि कर दी। यह सब देखकर अन्य प्रान्ताध्यक्षों ने भी अपना कर्तव्य समझा।

कोऽप्येकः कल्पवृक्षोऽयमेकोऽस्ति क्षितिमण्डले।
यत्पाणिपल्लवोऽप्येकः कुरुतेऽधः सुरद्रुमम्॥

[पृथ्वी पर यह (राजा) एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जो अपने एक पाणिपल्लव से ही स्वर्ग के कल्पवृक्ष को नीचा दिखाता है (यह बहुत बड़ा दानी है)।] □

९५ सेवा

मैं हूँ उसका भक्त, जो भक्तों का भक्त है।
जिसका सेवासक्त, रहकर कटता वक्त है॥

एक सच्चे जनसेवक से किसी ने पूछा :—"मैं उन लोगों के नामों की सूची बना रहा हूँ, जो खुदा के बन्दे हैं—भगवान् के भक्त हैं। कहिये, आपका नाम इस सूची में लिखूँ या नहीं ?"

जनसेवक ने कहा :—"भाई ! मैं तो भक्तों की भक्ति का प्रयास करता हूं। जैसा कि किसी शायर का कथन है :

खुदा के बन्दे तो हैं हजारों, वनों में फिरते हैं मारे-मारे।
मैं उनका बन्दा बनूँगा जिनको, खुदा के बन्दों से प्यार होगा॥

सूची बनाने वाले सज्जन ने तत्काल अपनी सूची फाड़ कर रद्दी की टोकरी में डाल दी। वे समझ गये कि सेवा की जरूरत भगवान् को नहीं है, मनुष्यों को है। हम मनुष्यों की ही सेवा कर भी सकते हैं। भगवान् की सेवा हम कर ही नहीं सकते। मनुष्यों की सेवा ही हमारा परम धर्म है। अपने तन-मन-धन से हम अपने भाइयों की सेवा करें। कहा है :—

क्या करेगा प्यार वह ईमान को ?
क्या करेगा प्यार वह भगवान को ?
जन्म लेकर गोद में इन्सान की,
कर न पाया प्यार जो इन्सान को ! □

१७ स्वभाव

काजल ही क्यों कृष्ण, तेल पीत बत्ती धवल।
दीपक हुआ सतृष्ण, अन्धकार निगला सकल॥

एक राजा की सभा में दीपक के स्वरूप पर चर्चा चल पड़ी। समस्या यह खड़ी की गई थी कि जब बत्ती सफेद है और तेल पीला है, तब धुँआ काला क्यों? दीपक की लौ का रंग भी केशरिया है, फिर भला काजल ही काला क्यों?

सभी विद्वान् अपने-अपने ढंग से उत्तर दे रहे थे; परन्तु किसी के भी उत्तर से राजा को सन्तोष नहीं हुआ। अन्त में एक कवि ने कहा—"राजन्! आहार जैसा नीहार होता है। कहावत भी प्रसिद्ध है—

जैसा निगले, वैसा उगले।

यह दीपक अँधेरे को खाता है, जो काला है और फलस्वरूप काजल उगलता है। यदि अँधेरा पीला होता तो काजल भी पीला होता।"

इससे राजा को पूरा सन्तोष हो गया और उसे विशेष रूप से सम्मानित किया गया।

जोइयओ गिलइ तमं,
तं चिय उग्गिलइ कज्जलमिसेणं।
अहवा सुद्धसहावा,
हियए कलुसं न धारेन्ति॥

(दीपक अँधेरे को निगलता है और कज्जल के बहाने से उसे उगल देता है अथवा शुद्ध स्वभाव वाले अपने हृदय में कलुष को नहीं रखते।)

□

९९ स्वार्थ

मौका पाकर लोग, अपनी रोटी सेंकते।
जिससे मिलता भोग, बात वही हैं फेंकते ।।

एक सेठजी की हालत मरणासन्न थी। उन्होंने अपने पुत्र से कहा—"बेटा ! मैं तेरी बहन की शादी नहीं कर सका, इसके लिए तू सुयोग्य वर देखेगा ही; परन्तु यदि किसी की सलाह लेने की आवश्यकता हो तो अपने इस भंगी से सलाह लेना।"

पिताजी ने आँखें मूँद लीं। पुत्र ने पिताजी की बात याद रखी, क्योंकि—

बड़ों की बात है अविचारणीया।
मुकुटमणितुल्य शिरसा धारणीया ।।

जब बहन की शादी का अवसर आया तो उसी भंगी से पूछा। भंगी ने कहा—"मेरे साले का लड़का है। वैसे पढ़ा-लिखा नहीं है, परन्तु स्वस्थ है—शक्तिशाली है। वह ठीक रहेगा।"

पुत्र ने कहा—"भला यह कैसे हो सकेगा ? पढ़ाई-लिखाई और खान-पान की अनुकूलता तो बहुत जरूरी है।"

भंगी—"सचमुच आप बुद्धिमान हैं। आपके पिताजी भी बुद्धिमान् थे। मुझसे सलाह लेने का आग्रह वे किसी खास प्रयोजन से कर गये हैं। वह प्रयोजन यही है कि जिनसे भी आप अपनी बहन की शादी के लिए सलाह लेंगे, वे मेरी ही तरह अपने किसी रिश्तेदार की चर्चा करेंगे; इसलिए दूसरों से सलाह न लेकर आप अपनी ही सूझबूझ से निर्णय करें।"

स्वार्थी दोषान्न पश्यति ।।

(स्वार्थी दोषों को नहीं देखता।)

जायेंगे गुरुदेव ! रत्नप्रभा में आप-से।
कहती हूं स्वयमेव, मेरे भाग्य न आप-से ॥

एक वुढ़िया किसी मुनि का प्रवचन सुनने जाया करती थी। प्रणाम करती हुई कहती थी :—

"वादू जी माराज ! थांरा पगांने।"

(हे महाराज ! मैं आपके पैरों को वन्दन करती हूं।)

मुनिजी ने कहा कि ":पगांने" के वदले तुम "चरणारविन्दांने" ऐसा कहा करो; किन्तु दूसरे दिन वुढ़िया ने फिर "पगांने" ही आदत के अनुसार कह दिया। मुनि ने कहा :—

"विद्ययाऽमृतमश्नुते।"

(विद्या से अमृत प्राप्त होता है।)

तुम्हें हम विद्या दे रहे हैं कि अपनी भक्ति को प्रकट करने के लिए "चरणारविन्द" शब्द का प्रयोग अच्छा रहेगा।

वुढ़िया ने कहा :—"आगा वारो परा आ चरणारविन्दांने ! मने तो याद नीं रे ! कई करूं ? मूंडासूं निकलेज कोनीं। पण माराज ! थांरा पगां में कई खोट है ?"

यह सुनकर उपस्थित जनों से गुरुदेव वोले :—"यह वहन रत्न-प्रभा में जाने योग्य है।"

वुढ़िया :—"रत्नप्रभा में तो आप जैसे ज्ञानी जायेंगे। मेरा उतना भाग्य कहां ?"

वुढ़िया को मालूम नहीं था कि पहली नरक को रत्नप्रभा कहते हैं। वह उसे स्वर्ग समझ रही थी।

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

[सत्य (सम्यक्) ज्ञान के विना मुक्ति नहीं मिलती।] □